दलित विमर्श : अवधारणा और इतिहास

Dr. Hem Lata Sharma

Asst. Prof. J.C.M.M - Assandh Distt. Karnal, Haryana-India

---------------------------♦---------------------------

उत्तर आधुनिकतावाद के युग में दलित विमर्श एवं स्त्राी विमर्श जोर पकड़ रहा है। आज जबकि यह स्वीकार कर लिया गया है कि दलित और स्त्राी ही साहित्य समाज और राजनीति में भविष्य की शक्तियाँ है, कुछ लोग पिफर भी इन दोनों मुद्दों पर कुतर्क और अभिजात्य बौ(िक बहसों से मुख्य विषय को हटाने की कोशिश कर रहे हैं। यह सवाल अभी भी पूछा जा रहा है कि दलित विमर्श क्यों? सदियों से कुलीन समाज ने इनकी न कोई पहचान दी और न ही इनकी आवाज सुनी गई। उनसे सिपर्फ कामकाजी और दूर का रिश्ता रखा गया। आजादी के 60 साल बाद भारत जैसे लोकतांत्रिक देश में भी यदि यही स्थिति बनी रहती है तो हमारे लिए यह शर्म की बात है। लोकतंत्रा हर नागरिक को समान अधिकार, अवसर, न्याय और स्वतन्त्राता देने की प्रतिज्ञा करता है। दलित समुदाय को यदि अब भी न्याय, अवसर, स्वतन्त्राता से वंचित करेंगे तो एक तो यह सम्भव नहीं है, दूसरे संविधान इसे बर्दाश्त नहीं करेगा। दलित केवल सुविधा वंचित नहीं बल्कि सामाजिक रूप से बराबरी के सम्मान से भी वंचित रहे है। वे दलित इसलिए है क्योंकि हमने उन्हें न ज्ञान दिया न सम्मान। इससे अधिक अमानवीयता और क्या होगी? हमें खुद को सहनशील बनाते हुए दलित विमर्श की मुख्य धारा करेंगे। यदि सामाजिक समानता की बात करनी है तो दलितों को साथ लेकर चलना होगा।

दलित शब्द की उत्पत्ति संस्कृत धातु 'दल' से हुई है जिसका अर्थ है तोड़ना, हिस्से करना कुचलना आदि से है। मानक हिन्दी शब्द कोश में फ्दलित का अर्थ दलिद्दर दरिद्र गया बीता और बहुत ही निम्न कोटि का कहा गया है।य1 संस्कृत हिन्दी शब्द कोश में फ्दलित का अर्थ दलन किया हुआ गिरा हुआ और अविकसित कहा गया है।2

मानव हिन्दी कोश में दलित का अर्थ फ्जिसका दलन हुआ हो मसला या रौंदा गया हो जो दबाया गया हो कुचला गया हो अर्थात् जिसे पनपने और बढ़ने नहीं दिया गया हो और ध्वस्त या नष्ट किया गया हो अर्थात् दलित वर्ग समाज का वह निम्नतम वर्ग है जो ऊँच वर्ग के लोगों के उत्पीड़न के कारण आर्थिक दृष्टि से बहुत ही हीन दशा में हो जैसे दास प्रथा, सामंतशाही व्यवस्था में कृषक और पूंजीवादी व्यवस्था में मजदूरी।3

समाज में वह वर्ग जो सवर्णों के साथ उठ बैठ नहीं सकता विवाह शादी नहीं कर सकता, खा–पी नहीं सकते अर्थात् हर क्षेत्रा में दलन किया जा रहा हो, उस दृष्टि से विपन्न लोगों को दलित मानते हैं। यह विचार दलित के अर्थ को सही ढंग से अभिव्यक्त नहीं कर सकता, क्योकि हिन्दू समाज में जो ऊँच नीच की व्यवस्था है वह जाति के नाम पर है अर्थ के नाम पर नहीं। इसलिए दलित हम उन्हें कहेंगे जो निम्न माने जाने वाली ऐसी जातियों में धकेल दिए हैं जिन्हें न सम्मान दिया और अधिकार वही दलित है।

दलित विमर्श –अवधारणा :

फ्दलित विमर्श का सामान्य अर्थ पीड़ित शोषित व दबाए गए लोगों में अपने अधिकारों के प्रति सजगता एवं जागृति से है। दलितों के बारे में किया गया विचार ही दलित विमर्श कहलाता है। सदियों से सामन्ती परम्परा व सामाजिक विसंगतियों की दीवार को ढहा कर स्वाभिमान के महल का निर्माण करना दलित विमर्श का ही परिणाम है। हिन्दू श्रेणी में सबसे निचली श्रेणी में धकेले गए लोग जब शिक्षित संगठित व संघर्षशील बनकर अपने अस्तित्व की पहचान तथा सम्मानजनक जीवन जीना चाहते हैं, तो वह उन लोगों की चैतन्य–प्रक्रिया है। क्योंकि विमर्श का सम्बन्ध मन से है। मन से सम्बन्धित होने के कारण मननशील प्रक्रिया है। व्यक्ति जब आन्तरिक व बाह्य रूप से चेतनशील बन जाता है तो वह अस्तित्व की पहचान को सार्थक बनाने में समर्थ हो जाता है। दलित विमर्श या सन्दर्भ में दलित व्यक्ति जब शोषणों व अत्याचारों से ऊबकर व अन्य सामाजिक कुवृत्तियों से बाहर निकलकर एक सभ्य समाज की कल्पना करता हुआ मान सम्मान व स्वाभिमान से जीना चाहता है तो यह उसके मन का विमर्श कहलाता है।4

फ्दलित विमर्श को समझने से पूर्व भारतीय समाज व्यवस्था के बारे में समझना होगा। क्योंकि दलित विमर्श वर्ण व्यवस्था के तहत समाज को चार वर्गों में ब्राह्मण, क्षत्रिाय, वैश्य एवं शूद्र में विभक्त किया गया है। कालान्तर में शूद्र दो वर्गों स्पर्श एवं अस्पर्श में विभक्त हो गया। इसमें अस्पर्श अर्थात् दलित जाति को समाज में सबसे निम्न स्थान प्राप्त हुआ। दलित विमर्श इस वर्णव्यवस्था का विरोधी है व समता की पक्षधर है। वर्णव्यवस्था के तहत प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष दमन शोषण अत्याचारों के विरोध की चेतना ही दलित विमर्श कहलाती है।5

दलित साहित्य एवं सामान्य हिन्दी साहित्य :

दलित साहित्य एक अति विचारणीय विषय है। कुछ विद्वानों दलितों के सम्बन्ध में लिखे गए साहित्य को दलित साहित्य मानते हैं तो कुछ दलित साहित्यकारों के द्वारा दलित समाज के लिए

लिखे गए साहित्य को दलित साहित्य मानते हैं पर इस विषय में शायद कोई मतभेद नहीं है कि जिस साहित्य में दलित जीवन की अभिव्यक्ति हो वही दलित साहित्य है।

दलित विमर्श का जिस तरह राजनीतिक विकास हुआ, उस तरपफ साहित्यिक विकास नहीं हुआ। साहित्य में हम तीन धाराएँ या श्रेणियाँ देखते हैं। पहली धारा स्वयं दलित जातियों में जन्में लेखकों की है, जिनके पास स्वानुभूतियों का विराट संसार है। दूसरी धारा हिन्दू लेखकों की है, जिनके रचना संसार में फ्दलितों का चित्राण सौन्दर्य सुख की विषय–वस्तु के रूप में होता है।6 तीसरी धारा प्रगतिशील लेखकों की है, जो दलित को सर्वहारा की स्थिति में देखते हैं।

साहित्य की इन तीनों धाराओं का उदय एक साथ नहीं हुआ। हिन्दू धारा के साहित्य में दलित विमर्श राष्ट्रीय आन्दोलन की देन है। स्वतन्त्राता–संग्राम के दौरान जब दलित–मुक्ति का प्रश्न उठा और पूना–पैक्ट के बाद जब गांधी जी ने अछूतोद्वार के लिए काम किया तो हिन्दू साहित्यकारों का भी इस समस्या की ओर ध्यान गया। प्रगतिशील साहित्य भी लगभग इसी काल में अस्तित्व में आया। प्रेमचंद इस धारा के अत्यन्त सशक्त लेखक थे। डॉ॰ अम्बेडकर के दलित आन्दोलन और गांधी जी के अछूतोद्वार कार्यक्रम दोनों का उनके जीवन पर पड़ता था। तो भी इस धारा के साहित्य में दलित विमर्श प्रगतिशील आन्दोलन के उद्भव के बाद का ही है। दलित धारा प्राचीन है। उसके इतिहास और साहित्य की एक परम्परा है। इस परम्परा का क्रमबद्ध विकास होता रहा है। यह आरम्भ से ही वेद और वर्णव्यवस्था विरोधी परम्परा रही है। इसलिए वस्तुतः इस धारा का उदय वर्णव्यवस्था के जन्म के साथ ही प्रतिरोध के रूप में हुआ है। कबीर ने इस धारा को एक नया तेवर और नई ऊर्जा दी है।

फ्दस अवतार निरंजन कहिए

सो अपना न कोई।7

दलित संतों के युग को आध्यात्मिक विद्रोह का युग भी माना जा सकता है। उन्होंने उन तमाम अध्यात्मिक मूल्यों से विद्रोह किया, जो मनुष्य–मनुष्य के बीच भेद करते थे। वे सामाजिक समता के साथ–साथ आर्थिक समता भी चाहते थे। रैदास के काव्य की सौन्दर्य–चेतना यह थी–

फ्बाभन को मत पूजिए जो हो गुन से हीन।

पूजिए चरन चण्डाल के, जो गुनज्ञान प्रवीन।।8

प्रगतिशील साहित्य और दलित विमर्श :

फ्हिन्दी में प्रगतिवादी या प्रगतिशील साहित्य का उदय 1930 के दशक में हुआ। उसका विधिवत नामकरण 1936 में हुआ, जब वामपंथी लेखकों ने प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना की। लेकिन प्रेमचंद ने इसकी स्थापना से पहले ही सामाजिक यथार्थ की कहानियाँ लिखना आरम्भ कर दी थीं। निःसंदेह पहले लेखक प्रेमचंद ही थे, जिन्होंने सबसे पहले यथार्थ वाद को अपनाया और प्रगतिशील आदर्शों को स्थापित किया। हालांकि वे वामपंथी विचार मंचों से नहीं जुड़े थे, लेकिन वे इस मत के थे कि लेखक स्वभाव से ही प्रगतिशील होता है। वे पहले गैर–दलित लेखक भी हैं, जिनकी रचनाओं में हमें दलित समस्या का चित्राण मिलता है।9

प्रेममचंद पर डॉ॰ अम्बेडकर के दलित मुक्ति आन्दोलन का बहुत असर पड़ा था। पर वे गांधी जी के अछूतो(ार कार्यक्रम के समर्थक थे। वे दलितों को हिन्दुओं से पृथक् करने के पक्ष में नहीं थे। इसलिए इनकी रचनाओं में दलित विमर्श उस रूप में नहीं है, जिस रूप में अम्बेडकर के दलित आन्दोलन में था। परन्तु उनका दलित विमर्श उस अर्थ में भी नहीं, जिस अर्थ में वह हिन्दुवादी धारा के साहित्य में मिलता है। वे सामाजिक बदलाव को महसूस करते हैं और दलितों के प्रति सवर्णों के कठोर व्यवहार की निंदा करते हैं। डॉ॰ अम्बेडकर ने तालाब से पानी लेने और मंदिर में प्रवेश के अधिकार को लेकर जो सत्याग्रह किए, प्रेमचंद ने उसी से प्रभावित होकर 'ठाकुर का कुआं' और 'मंदिर' कहानियाँ लिखी थीं। 'सद्गति' कहानी में उन्होंने दलित के प्रति ब्राह्मणों के घृणित और अमानवीय व्यवहार को उजागर किया है। 'गोदान' में उन्होंने होरी की धार्मिक जड़ता को दिखाया है। यदि हम 'गोदान' उपन्यास एवं 'सद्गति' कहानी का पाठ इस अर्थ में करे कि ब्राह्मण भक्ति से मुक्ति दलित मुक्ति है, तो दलित विमर्श एक नई तेजस्विता के साथ प्रेमचंद के रचना, कर्म में हमें मिलता है। लेकिन उनकी 'कपफन' कहानी में यह दलित विमर्श हो जाता है। घीसू और माधव के चरित्रा अस्वाभाविक से प्रतीत होते हैं। बुधिया दर्द से छपटपटाती है और धीसू–माधव आलू भून कर खा रहे हैं। कोई भी घर के भीतर जाकर बुधिया को नहीं देखता। अंततः बुधिया मर जाती है। यह अस्वाभिक लगता है कि एक औरत दर्द से चीख रही है और आस–पड़ोस की औरतें तक उसे देखाने न आएं। इससे ऐसा लगता है कि प्रेमचंद ने धीसू और माधव के चरित्राों को जानबूझ कर विकृत करने की परिस्थितियों का निर्माण किया है।

प्रगतिशील साहित्य अपने मार्क्सवादी सरोकारों के कारण कहीं–कहीं अति यथार्थवादी हो गया है, जिस तरह वर्तमान दलित साहित्य अंबेडकरवादी सरोकारों के कारण कहीं–कहीं आदर्शवादी हो गया है। लेकिन मार्क्सवादी दलित विमर्श जिस वर्ग चेतना का सवाल उठता है, वह महत्त्वपूर्ण है और उसे खारिज नहीं किया जा सकता। वस्तुतः यह एक तथ्य है कि गरीबी में प्रतिभाएँ मर जाती हैं और गरीबी के विरु(संघर्ष अपनी आर्थिक समस्याओं को हल किए बिना संभव नहीं हैं भारतीय समाज में यह एक महान् क्रांति होगी यदि सारे गरीब और मजदूर एक विशाल वर्ग–शक्ति बन जाएं। प्रगतिशील साहित्य का दलित विमर्श वस्तुतः इसी अर्थवत्ता का है। लेकिन मुख्य समस्या यही है कि सारे गरीब मजदूर और दलित एक विशाल वर्गशक्ति कैसे बने, जबकि उनके बीच सामाजिक स्तर पर गहरे जातीय भेदभाव हैं? मार्क्सवादी चिंतकों को इस सवाल का जवाब देना ही होगा।

दलित साहित्य और वैचारिकता :

फ्दलित साहित्य का वैचारिक प्रस्थान बिन्दु अम्बेडकर दर्शन है, जिसको दलित साहित्यकार मानवता के प्रति शपथ के रूप में लेता है। जबकि परम्परावादी सवर्णों को यही भय सालता रहता

है कि यदि दलितों को भी यथोचित सम्मान दिया जाएगा तो धर्म की व्यवस्था छिन्न–भिन्न हो जाएगी। दलित साहित्य विचार की दृष्टि से अत्यन्त सम्पन्न साहित्य है और वर्गविहीन, जातिविहीन, शोषण मुक्त न्यायपरक व्यवस्था के लिए लड़ता है। विचार की दृष्टि से दलित साहित्य कालजेयी साहित्य है। न्यायपरक, सम्मानजनक स्थितियों वाले समाज की संरचना करते हुए अपने मिशन को चुनौती के रूप में स्वीकार करतते हुए लक्ष्य प्राप्त करने तक संघर्ष करते रहने के लिए प्रयासरत है। आज के संदर्भ में जिसे हम दलित साहित्य कहते हैं वह उसी छटपटाहट का प्रतिपफलन है। उसका उद्‌गम और विकास मूलतः मराठी में सबसे पहले सन् साठ के आस–पास हुआ और उसकी जड़ें अम्बेडकरवादी विचार में तलाशी जा सकती हैं।10

सन् 1920 के बाद का समय भारत में कई तरह के नये विचारों के विस्तार का समय है। अम्बेडकरवादी विचार भी उसी समय कम से दलित वर्ग के लिए छोटे से हिस्से तक पहुंचने लगे थे। बाबा साहब अम्बेडकर का विचार था कि भारत में सारी सामाजिक गड़बड़ी की जड़ वर्णव्यवस्था है उसे समाप्त किए बिना न तो जातिवाद समाप्त किया जा सकता है और न छूआछूत। इसलिए उन्होंने प्रारम्भ से ही वर्ण व्यवस्था के खिलापफ मुहिम छेड़ी थी। लेकिन वे यह भी जानते थे कि वर्णव्यवस्था की जड़ें बहुत गहरी हैं। उसे इतनी आसानी से उखाड़कर नहीं पफेंका जा सकता है। यह तभी सम्भव है जब दलित वर्ग शिक्षित, संगठित और स्वाभिमानी बने। इसलिए उन्होंने बार–बार दलित वर्ग को शिक्षित संगठित और स्वाभिमानी होने का आह्‌वान किया। 1920 के बाद में 'मूक नायक' पत्रा के माध्यम से बाबा साहब के यही विचार दलित वर्ग तक पहुंचने लगे थे। कम–से–कम मराठी भाषी क्षेत्रा में ये विचार दलित वर्ग को न केवल शिक्षित कर रहे थे, बल्कि संगठित और आन्दोलित भी कर रहे थे। धीरे–धीरे दलित वर्ग का आन्दोलन जनसंघर्ष का रूप ले रहा था और जैसा कि ज्यादातर लोग इस बात को स्वीकार करते हैं कि बाद में उन्हीं जनसंघर्षों से दलित साहित्य की परम्परा विकसित हुई।11

दलित साहित्य का मुख्य रूप से मराठी के साथ–साथ गुजराती, मलयालम, तेलगु, तमिल, पंजाबी इत्यादि भाषाओं में प्रवेश और विकास हुआ। लेकिन हिन्दी में दलित साहित्य का प्रवेश अपेक्षाकृत विलम्ब से और खासी कशमकश के साथ हुआ। कभी तो हिन्दी के साहित्यकार दलित साहित्य के नाम को सुनकर ऐसे बिदकते थे जैसे दलित की सूरज या परछाई से यहाँ का प्रभुत्वशाली वर्ग दूर भागता था। तब मराठी के दलित साहित्य की बात सामने आते ही दो तरह के तर्क दिये जाते थे। पहला तर्क यह था कि हमारे यहाँ न केवल हिन्दी में बल्कि संस्कृत साहित्य में भी सैंकड़ों साल से दलित साहित्य मौजूद रहा है, इसलिए हिन्दी में इस तरह के साहित्य की कोई जरूरत नहीं है और दूसरा तर्क यह कि ऐसा जरूरी नहीं है कि दलित साहित्य दलित ही लिखेगा, उसे गैर दलित भी लिख सकता है और जैसा की हिन्दी में लिखा भी खूब गया है। इस दूसरे तर्क की पुष्टि में लोग प्रेमचंद जैसे महान कथाकार को आगे करके अक्सर बात करते थे।

फ्इसीलिए आज यह प्रश्न उपस्थित हुआ है, कि साहित्य को किसका विचार करना चाहिए, किसे अपने विचार का केन्द्र बनाना चाहिए अत्यन्त प्राचीन और अप्राचीन काल के प्रारम्भ में यह प्रश्न उपस्थित नहीं हो सकता था। ऐसा नहीं है कि तब विषमता नहीं थी ऐसा भी नहीं था कि तब समाज दो वर्गों में विभाजित नहीं रह हो। यह भी नहीं है कि तब वर्ण नहीं थे। परन्तु आज सामाजिक उत्पादन यंत्रा–तंत्रा ने जो स्थिति पैदा की है, इस युग तथा इसके क्रान्तिकारी विज्ञान ने दो वर्णों में संघर्ष सुलगाया है। पुरातन युग से अब तक यह तत्त्व ज्ञान बरवाना गया है कि सुख वैभव, अन्याय–अत्याचार पर विचार नहीं करना चाहिए। वासना–भावना और मानवीय मूलभूत प्रवृतिनष्ट करने को इस संसार में रहते हुए भी इस संसार के नहीं होने की तरह जीने, चित्त को शु(रखने, निर्विकार बनने पुण्य प्राप्त करने, शांत चित्त होकर मन की शांति प्राप्त करने और मरने के बाद स्वर्ग मिलने का उपदेश दिया गया है।12

इस विचार के पीछे यही उद्देश्य रहा कि विषमतापूर्ण रचना को व्यक्तिगत स्तर पर थी विद्रोह का धक्का न लग सके। असन्तोष और बु(िवाद का जन्म न हो।

यहीं से दो दर्शनों, दो विचारधाराओं और दो साहित्यकारों का आरम्भ हुआ। जहाँ तक भारत की तरह की जाति–व्यवस्था, वर्ण–व्यवस्था नहीं थी, वहाँ के लेखेकों, कलाकारों को अपने यहाँ की परिस्थिति अधिक स्पष्ट रूप से दिखी। परन्तु भारत में जाति व्यवस्था के पफलस्वरूप, उसके द्वारा की गयी सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक एवं मानसिक रचना के परिणाम स्वरूप भारत के साहित्यिकों का बोध जितना प्रखर होना चाहिए था, उतना प्रखर कभी भी नहीं रहा।

दलित साहित्य का इतिहास :

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। प्रत्येक साहित्यकार भी समाज में रहकर ही अपने अनुभव संकलित करता है और साहित्य के माध्यम से उसे अभिव्यक्ति प्रदान करता है। दूसरे शब्दों में समाज का प्रतिबिम्ब ही साहित्य में झलकता है। समाज में जो उत्थान, पतन, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक और राजनीतिक क्षेत्रा में परिवर्तन होते रहते हैं, उसका प्रभाव साहित्यकार और प्रकारान्तर से साहित्य पर पड़ता है। स्वातन्त्रय पूर्व और स्वतान्त्रयोत्तर काल में अनेक संतों, समाज सुधारकों ने दलितो(ार के अनेक प्रयास किये, जिसका स्पष्ट प्रतिबिम्ब उस काल के साहित्य में परिलक्षित होता है।

दलित साहित्य का इतिहास बहुत पुराना है। दलित साहित्य जिस क्रान्ति का हिमायती है वह बहुत पहले ही आरम्भ हो चुकी थी। स्वतन्त्रा भारत में उसे प्रोत्साहन मिला और वह गतिशील हो गई। वर्तमान दलित साहित्य उसी क्रांति की संतान है, जो बहुत पहले संत साहित्य के रूप में आरंभ हो चुकी थी। दलित साहित्य आज जो निषेध और नकार की भाषा बोलता है, उसके बीज कई वर्षों पहले सन्त साहित्य में अंकुरित हो गये थे। फ्साहित्य मूलतः एक मानसिक क्रिया, एक सर्जनात्मक और आत्मचैतन्य उद्यम माना जा सकता है। यद्यपि वह इस अर्थ में सामाजिक रूप से आकार ग्रहण करता है कि लेखक प्रचलित बौ(िक इतिहास का अंग होता है, अपने साथ के लोगों की भाषा, प्रवृत्तियों और तर्जों का भागीदार होता है और उन मूल्यों को व्यंजित करता है, जो

समाज राष्ट्र या युग के किसी अन्वेषणीय सन्दर्भ में प्राप्त होते हैं।13

प13वीं शताब्दी में संतों का युग शुरू हुआ जिन पर सि(ों और नाथयोगियों का प्रभाव सापफ दिखाई देता है। इन संतों ने निर्गुण भक्ति के माध्यम से सामाजिक असमानता, जात–पात, ऊँच–नीच, भेदभाव, कर्मकाण्ड और ब्राह्मणवाद पर सीधी चोट करते हुए समानता, सद्भावना और भाईचारे पर जोर दिया। इस सम्बन्ध में महाराष्ट्र में जहाँ संत नामदेव, संत एकनाथ, संत तुकाराम, समर्थ रामदास, चोखामेला ने हिन्दी में अपनी रचनाएँ की, वही उत्तरी भारत में कबीर, रविदास, गुरुनानक, दादू पलटूदास सुन्दरदास, रज्जब आदि संतों ने सरल हिन्दी भाषा में मूर्तिपूजा, अवतारवाद, पाखण्डवाद, बाह्यआडम्बर की खुलकर बुराई की। संतों के विचारों में दलित जाति को प्रेरणा मिली और उनमें आत्मविश्वास जागृत हुआ।14

गुरुनानक देव से लेकर सिखों के दसवें गुरु गोविन्द सिंह ने ब्राह्मणवाद कर्मकाण्ड और मानवीय भेदभाव के खिलापफ बानी लिखकर संतों के कार्यों के आगे बढ़ाया। वास्तव में सिख धर्म की स्थापना ही ब्राह्मणवादी व्यवस्थाओं के विद्रोह स्वरूप हुई थी, इसीलिए हम देखते हैं कि सिखों के पवित्राग्रन्थ 'श्री गुरुग्रन्थ साहिब' में 34 दलित संतों की वाणियाँ संकलित की गई हैं, जिनमें संत गुरु रविदास एवं सन्त कबीर साहब की वानियों को विशेषता दी गयी है। दलितों को समाज में सम्मान दिलाने में सिख गुरुओं का महान योगदान है। गुरु नानक देव जी तो जात–पात की नीवं उखाड़ते सवयं कहते हैं–

फनीचा अन्दर नीच जात, नीची हूँ अति नीच

नानक तिनके संग साथ, बढ़िया जो किया रीस।15

;भक्तिकालद्ध मध्ययुग के पश्चात् दलित साहित्य एकदम अछूता ही रहा। आधुनिक युग में प्रेमचंद, निराला, दिनकर अज्ञेय के साहित्य में दलित संवेदना की अनुभूति मिलती है। इनमें दलित समाज की समस्याओं का चित्राण तो मिलता है पर उनका समाधान नहीं है। सही मायने में दलित साहित्य का प्रादुर्भाव दलित लेखकों के माध्यम से ही हुआ है, जिन्होंने दलित होने की पीड़ा को भोगा है सहा है। साहित्यकारों ने हिन्दी में दलित साहित्य का प्रारम्भ 1914 में सरस्वती पत्रिाका के सितम्बर अंक में प्रकाशित हुई हीरा डोम की इस 'अछूत' कविता से मानते हैं, जिसमें उसने अपने दलित ;अछूतद्ध होने की पीड़ा अभिव्यक्त की है।

दलित साहित्य ने बाबा साहब डॉ॰ अम्बेडकर के मूलमंत्रा शिक्षित बनो, संगठित हो, संघर्ष करो की सही व्याख्या प्रदान कर दलितों में एक नई वैचारिक क्रान्ति पैदा की है, जिससे देश की सत्ता व सम्पदा में बराबर की हिस्सेदारी के लिए दलित संघर्ष तेज हुआ है। दलितों ने अपने मत का सही इस्तेमाल करके राजनीतिक क्षेत्रा में भारी उथल–पुथल मचा दी है। समाज परिवर्तन का जो काम हिन्दी साहित्य कई शताब्दियों में कभी नहीं कर पाया दलित साहित्य ने वह 2–3 दशक में राजनीतिक क्षेत्रा में भारी मात्राा में कर दिखाया। देश की इक्कसवीं सदी कैसी होगी, दलित साहित्य उसकी रूप रेखा का अंकन करके आगे बढ़ रहा है।

निष्कर्ष :

इसी तरह दलित साहित्य का जो बीजारोपण दलित सन्तों ने किया, उसे ज्योतिबा पुफले, स्वामी अछूतानंद हरिहर ने अपनी ओजस्वी वाणी से अंकुरित करके आगे बढ़ाया, बाबा साहब डॉ॰ अम्बेडकर के संघर्ष और मार्ग–दर्शन से प्रेरणा पाकर यह छठे दशक में महाराष्ट्र की भूमि पर नवजीवन पाकर प्रकट हुआ। पिफर भारतीय दलित साहित्य अकादमी के प्रयास से आठवें दशक में दलित साहित्य ने हिन्दी क्षेत्रा में प्रवेश किया और इस तरह 15 वर्षों की लघु अवधि में इसने हिन्दी में अपना विशेष स्थान बना लिया है। आज हिन्दी में दलित साहित्य पर शोध हो रहे हैं, विश्वविद्यालयों में 'दलित साहित्य' विभाग स्थापित हो गये है और पुस्तकालयों में भी 'दलित साहित्य' पर्याप्त मात्राा में उपलब्ध हो रहा है। यह हम सब के लिए गौरव की बात है कि दलित साहित्य की जीवन्तता कायम है।

आधर–सूची :

1. रामचन्द्र वर्मा, मानक हिन्दी कोश, ;प्रयाग साहित्य सम्मेलनद्ध, 1964, पृ. 35

2. आदित्येश्वर कौशिक, संस्कृत हिन्दी कोश, दिनमान प्रकाशन 1986, पृ. 162

3. रामचन्द्र वर्मा, मानक हिन्दी कोश, पृ. 35

4. कंवल भारती, दलित विमर्श की भूमिका, पृ. 7, 8

5. वही, पृ. 13

6. कंवल भारती, दलित विमर्श की भूमिका, पृ. 102

7. कंवल भारती, दलित विमर्श की भूमिका, पृ. 103

8. वही, पृ. 104

9. कंवल भारती, दलित विमर्श की भूमिका, पृ. 118

10. पुत्राी सिंह कमला प्रसाद, राजेन्द्र शर्मा, भारतीय दलित साहित्य परिप्रेक्ष्य, पृ. 300, वाणी प्रकाशन, संस्करण–2003

11. पुत्राी सिंह कमला प्रसाद, राजेन्द्र शर्मा, भारतीय दलित साहित्य परिप्रेक्ष्य, पृ. 13, वाणी प्रकाशन, संस्करण–2003

12. पुत्राी सिंह कमला प्रसाद, राजेन्द्र शर्मा, भारतीय दलित साहित्य परिप्रेक्ष्य, पृ. 37, वाणी प्रकाशन, संस्करण–2003

13. डॉ॰ चन्द्रकुमार वरठे, दलित साहित्य आन्दोलन, पृ. 77

14. डॉ॰ सोहनपाल सुमनाक्षर, दलित साहित्य की हुंकार, पृ. 69, 70

15. डॉ॰ सोहनपाल सुमनाक्षर, दलित साहित्य की हुंकार, पृ. 71